Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
Available online at : www.gisrrj.com
OPEN ACCESS
© 2024 GISRRJ | Volume 7 | Issue 1 | ISSN : 2582-0095

आचार्य कुन्दकुन्द देव के काल-विषयक समीक्ष्य-बिन्दु

प्रो. सुदीप कुमार जैन
आचार्य, एवं विभागाध्यक्ष, प्राकृतभाषा-विभाग, श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विश्वविद्यालय
(केन्द्रीय विश्वविद्यालय) नई दिल्ली

Article Info

Volume 7, Issue 1
Page Number : 81-89
Publication Issue :
January-February-2024

Article History
Accepted : 25 Jan 2024
Published : 15 Feb 2024

शोधसारांश- जैन-आगमिक-वाङ्मय के मूर्धन्य-मनीषी एवं साहित्यकार आचार्य कुन्दकुन्द देव के काल-विषयक-निर्धारण में उनके द्वारा प्रस्तुत कतिपय ऐसे तथ्य हैं, जो अति-उत्साहित-जनों को अपनी गवेषी-मानसिकता के पोषणार्थ कई आधार-बिन्दु प्रदान कर देते हैं। इनके आधार पर वे अति-उत्साही-विद्वान् प्राचीन मनीषियों एवं साहित्यकारों के काल-निर्धारण के मानदंडों एवं पद्धतियों की उपेक्षा करते हुये छोटे-मोटे कथनों को ही अंतिम-प्रमाण के रूप में मानकर उनके आधार पर अपनी निष्पत्ति कर देते हैं और "यही अंतिम-सत्य है" --ऐसी निर्णीति प्रस्तुत करते हुये अन्य ज्वलन्त-साक्ष्यों की उपेक्षा करने के लिये तत्पर हो जाते हैं, जो कि न केवल वास्तविक होते हैं, बल्कि उनकी उपेक्षा से सारी परम्परा का ऐतिह्य ही संकटास्पद हो जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों की जिनाम्नाय की दृष्टि से मूलानुगामिता एवं प्रामाणिकता ज्ञापित करने की दृष्टि से 'अंतिम-श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु स्वामी को अपना 'गमकगुरु' क्या लिख दिया, इन लेखकों ने उन्हें आचार्य कुन्दकुन्द के दीक्षा-गुरु के रूप में निर्णीत करते हुये आचार्य कुन्दकुन्द को अंतिम-श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु स्वामी का समकालीन या किंचित्-उत्तरवर्ती मान लिया है और जोर-शोर से इस बात का धुँआधार-प्रचार प्रारम्भ कर दिया है।-- यह इसलिये भी चिंता का विषय है कि आचार्य कुन्दकुन्द जिस नंदिसंघ के आचार्य थे, उस नंदिसंघ की स्थापना ही विक्रम की प्रथम-शताब्दी में हुई थी, जबकि अंतिम-श्रुतकेवली आचार्य श्री भद्रबाहु स्वामी सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के धर्मगुरु के रूप में स्थापित हैं और उनका काल लगभग पाँचवीं शताब्दी ईसापूर्व की उपान्त्य-बेला में प्रमाणित है। तब दोनों के कालों में लगभग 400 वर्षों से अधिक का अन्तर आ जाता है। इतिहास के क्षेत्र में यह बहुत-बड़ा अन्तर है और इससे अनेकों पूर्वापर-घटनाक्रमों के काल-विषयक-निर्धारण में सब कुछ डाँवाडोल हो जायेगा। अत: ऐतिहासिक साक्ष्यों की तथ्यात्मकरूप से प्रस्तुति के साथ-साथ काल-निर्धारण के स्थापित-मानदण्डों को आधार बनाकर इस आलेख में आचार्य कुन्दकुन्द का काल-निर्धारण की समीक्षा की गयी है।

मुख्य शब्द- जैन-आगमिक-वाङ्मय, कुन्दकुन्द देव, अंतिम-सत्य, उपान्त्य-बेला।

Copyright: © the author(s), publisher and licensee Technoscience Academy. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution Non-Commercial License, which permits unrestricted non-commercial use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited

आजकल आचार्य कुन्दकुन्द देव के प्रति भक्ति-विशेष की अभिव्यक्ति के लिये उन्हें प्राचीनतर सिद्ध करने का उपक्रम कुछ विद्वद्गण कर रहे हैं। इस उपक्रम में उन्होंने आचार्य कुन्दकुन्द देव के द्वारा अन्तिम-श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु स्वामी के उल्लेख को आधार बनाया हुआ है। इस आधार पर वे सिद्ध करना चाहते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द देव अन्तिम-श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु स्वामी के साक्षात्-शिष्य थे। और चूँकि श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी का काल जैन-इतिहास में ईसापूर्व चतुर्थ-शताब्दी से पहले (लगभग 450 ईसापूर्व) निर्णीत है, अत: आचार्य कुन्दकुन्द देव का काल भी ईसापूर्व चतुर्थ-शताब्दी ही माना जाना चाहिये।

वे जिस भक्ति एवं निष्ठा से दिन-रात लगकर यह सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं, वह परिश्रम एवं आचार्य कुन्दकुन्द देव के प्रति बहुमान की दृष्टि से निश्चितरूप से प्रशंसनीय है। किन्तु वे संभवत: शोध-क्षेत्र के मानकों से उतने अभिज्ञ नहीं हैं, जितनी प्रामाणिक शोध-प्रविधि में अनिवार्य-अपेक्षा होती है। इसीलिये वे इधर-उधर के कुछ उद्धरण लेकर उनकी अपने मनोगत के अनुरूप व्याख्या करते हुये अपने कथन की पुष्टि में निरत हैं। उनकी यह प्रक्रिया एवं मानसिकता 'शोध' की नहीं, बल्कि 'प्रतिशोध' की प्रतीत हो रही है।

मैं विनम्रता-पूर्वक यह कहना चाहता हूँ कि जैसे आजकल व्यवसाय-जगत् के लोग अपनी कंपनी व नाम को प्रसिद्ध व चर्चित बनाने के लिये विवादों को खड़ा करके अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं, क्या आपका कुछ ऐसा ही अभिप्राय इस चर्चा के पीछे निहित नहीं है? क्योंकि आप आचार्य कुन्दकुन्द देव के तत्त्वज्ञान की गहराइयों को उद्घाटित करने में इतनी निष्ठा व आग्रह नहीं दिखा रहे हैं, जितनी निष्ठा व आग्रह से आगे बढ़कर आप उन्हें सुस्थापित कालनिर्णय से और अधिक प्राचीन बताने में लगे हुये हैं।

यह मैं कोई आक्षेप नहीं लगा रहा हूँ और न ही किसीतरह का वैयक्तिक-पूर्वाग्रह से ग्रसित होकर यह लिख रहा हूँ, बल्कि तथ्यों के आधार पर अपनी बात लिख रहा हूँ। आगे मैं अपने अभिप्राय को बिन्दुश: यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ -

1. ऐतिहासिक-तथ्यों का निर्णय भावनाओं के आधार पर नहीं, बल्कि ठोस-प्रमाणों के आधार पर किया जाता है:-- यह इतिहास के विषय में एक अत्यन्त-महत्त्वपूर्ण-सिद्धांत है। यदि कोई राजा विक्रमादित्य की उपाधि को धारण कर भी लेता है या उसके नाम के साथ 'विक्रमादित्य' की उपाधि प्रयुक्त मिलती है, तो भी अन्य पुष्ट-प्रमाणों के अभाव में उसे विक्रम-संवत् का संस्थापक सम्राट् विक्रमादित्य नहीं माना जा सकता है और न ही इतने उल्लेख के आधार पर उसका काल लगभग 57 ईसापूर्व निर्धारित किया जा सकता है। किसी नाम या संबंध के उल्लेख को अन्य प्रमाणों से भी पुष्ट करने के बाद ही पूर्णत: स्पष्ट होने पर ऐसा निर्णय किया जा सकता है।

आचार्य कुन्दकुन्द देव के विषय में जो चर्चा चलायी जा रही है, उसके विषय में भी यही सिद्धांत लागू होता है। अंतिम-श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु स्वामी के विषय में आचार्य कुन्दकुन्द देव के द्वारा 'अपने गमकगुरु' (सो जयदु भद्दबाहू गमयगुरु..) एवं 'अपने को उनका शिष्य' (सीसेण य भद्दबाहुस्स) कहना प्रतीकात्मक या किसी विशिष्ट-प्रयोजन की पूर्ति के लिये किया गया प्रयोग है, न कि कालनिर्णय के लिये आधारभूत-साक्ष्य। मैं इतनी दृढ़ता पूर्वक यह बात क्यों कह रहा हूँ?-- इस विषय में आगे तथ्य प्रस्तुत करने जा रहा हूँ।

किसी भी जैनाचार्य के बारे में जब कहीं परिचय दिया जाता है, तो उनके गण, संघ, गच्छ, दीक्षागुरु एवं शिष्य-परम्परा आदि का भी परिचय दिया ही जाता है, ताकि उनके बारे में निर्भ्रान्त-निर्णय किया जा सके और उनके व्यक्तित्व एवं अवदानों को भी इदमित्थं रूप में निर्धारित किया जा सके।- यह सुस्थापित-परम्परा है।

आचार्य कुन्दकुन्द देव के बारे में भी इन बिन्दुओं का परिचय निम्नानुसार प्राप्त होता है–

(क) आचार्य कुन्दकुन्द देव का संघ 'नन्दिसंघ' था, देखिये–

श्रीमूलसंघेऽजनि नन्दिसंघस्तस्मिन्बलात्कारगणोऽतिरम्यः।

तत्रावभवत् पूर्वपदांशवेदी, श्रीमाघनन्दी नर-देव-वन्द्यः।।

पट्टे तदीये मुनिमान्यवृत्तौ, जिनादिचन्द्रः समभूदतन्द्रः।

ततोऽभवत्पञ्चसुनामधामा, श्रीपद्मनन्दी मुनिचक्रवर्ती।।[1]

जिसके संस्थापक आचार्य माघनन्दि थे।

और इस संघ की स्थापना उसी 'युग–प्रतिक्रमण' के समय हुई थी, जिसके अध्यक्ष आचार्य अर्हद्बलि थे। ये वही आचार्य अर्हद्बलि हैं, जिनकी अध्यक्षता में आंध्र–प्रदेश की 'वेण्या–नदी' के तट पर स्थित महिमा–नगरी में युग–प्रतिक्रमण के आयोजन का निर्विवाद एवं ऐतिहासिक उल्लेख मिलता है। इसी 'युग–प्रतिक्रमण' में आचार्य धरसेन का संदेशवाहक दो श्रुत–संधारण में समर्थ युवा–मुनियों को गिरनार–पर्वत की 'चंद्र–गुफा' में विराजमान 'छक्कम्म–पयडि–पाहुडं' के श्रुतांशधर आचार्य धरसेन के पास भेजे जाने का आग्रहपूर्ण–पत्र/संदेश लेकर पहुँचा था।

इसी 'युग–प्रतिक्रमण' के अध्यक्ष आचार्य 'अर्हद्बलि' ने तब 'नरवाहन' एवं 'सुबुद्धि' नामक दो सुयोग्य एवं युवा–मुनिवरों को आचार्य धरसेन स्वामी के पास गिरनार–पर्वत की' चंद्र–गुफा' में भेजा था। उन्होंने वहाँ जाकर आचार्य धरसेन स्वामी से श्रुत का उपदेश ग्रहण किया था और उनके निर्देशानुसार वापस लौटकर 'छक्खंडागमसुत्तं' नामक आगम का लिपिबद्धीकरण किया था। इसी 'छक्खंडाहमसुत्तं' के प्रथम–तीन खंडों पर आचार्य कुन्दकुन्द देव ने बारह हजार (12000) श्लोकप्रमाण 'परिकर्म' नामक टीका लिखी थी, जिसका उल्लेख आचार्य इन्द्रनन्दि ने 'श्रुतावतार' (160–161) में इसप्रकार किया है––

"श्रीपद्मनन्दि–मुनिना, सोऽपि द्वादश–सहस्र–परिमाणः। ग्रन्थ–परिकर्म–कर्त्ता, षट्खण्डाद्य–त्रिखण्डस्य।।

इन आचार्य धरसेन स्वामी का निर्भ्रान्त–कालनिर्णय ईसा की प्रथम–शताब्दी का पूर्वार्द्ध से उत्तरार्द्ध तक जैन–इतिहास में मिलता है।

इन आचार्य धरसेन स्वामी के द्वारा उपदिष्ट–श्रुत को अवधृत करके उसे लिपिबद्ध करने का कार्य लगभग पौने दो वर्षों में सम्पन्न हो सका था। इसका लिपिबद्धीकरण पूर्ण होते ही इस कार्य का भारी–स्वागत किया गया था और "जयदु सुददेवदा" के जयघोष के साथ उस तिथि (ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी, वीर निर्वाण संवत् 683) को 'श्रुतपंचमी–पर्व' के रूप में मनाये जाने की परम्परा प्रवर्तित हुई, जो आज तक एक प्रतिष्ठित जैन–पर्व के रूप में मनाया जाता है।

जब यह सब सुनिर्णीत एवं निर्विवाद–तथ्य है, तो इससे सुतरां स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ का निर्माण वीर निर्वाण–संवत् 683 (ईसा की प्रथम–शताब्दी का उत्तरार्द्ध) था, (विद्वानों ने छक्खंडागमसुत्तं को पूर्ण करनेवाले आचार्य भूतबलि 87 ईस्वी में माना है।) तो इस ग्रन्थ के आद्य–टीकाकार आचार्य पद्मनन्दि–कुन्दकुन्द का समय प्रथम–शताब्दी ईस्वी से पहले कदापि संभव ही नहीं है। कदाचित् कालगणना की बारीकियों पर भी जोर दिया जाये, तो अधिकतम 50–60 वर्षों का ही अन्तर संभावित हो सकता है। तब भी आचार्य कुन्दकुन्द देव का काल प्रथम–शताब्दी ईस्वी ही रहेगा, इससे प्राक्तन सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

(ख) साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि जिनाम्नाय में श्रुत के लिपिबद्धीकरण का सूत्रपात इसी 'छक्खंडागमसुत्तं' के लिपिबद्धीकरण से प्रारम्भ हुआ था, जिसकी पावन-स्मृति में आज भी 'श्रुतपंचमी-पर्व' मनाया जाता है। जब श्रुत के लिपिबद्धीकरण की परम्परा ही वीर-निर्वाण-संवत् 683 में प्रवर्तित हुई थी, तो इससे लगभग 400 वर्ष पहले हुये अंतिम-श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु स्वामी के साक्षात् शिष्य आचार्य कुन्दकुन्द देव कैसे हो सकते हैं। क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द देव ने चौरासी (84)पाहुड-ग्रन्थों की रचना की थी, उन्हें स्वयं लिपिबद्ध किया था। तब तो जिनश्रुत के लिपिबद्धीकरण का यह पर्व एवं इसका पूरा इतिहास ही मिथ्या सिद्ध होगा।

(ग) तथा हे प्रज्ञामनीषी! यह तो विचार करो कि क्या जिनाम्नाय में जिनश्रुत के लिपिबद्धीकरण की परम्परा पहले थी? अरे! जिनवचनों के द्वादशांगी-प्रारूप को "श्रुत्वा अवधारणं श्रुतम्" की परिभाषा के अनुसार ही तो 'श्रुत' की संज्ञा दी गयी थी। क्योंकि 'श्रुत' की परम्परा को गुरु ने साक्षात् सिखाया और शिष्य उनके वचनों को अवधृत करके स्मृतिपटल पर अमिट बना लेते थे, किसी ने भी उसे लिखितरूप देने का साहस नहीं किया। इसीकारण तो उसकी 'श्रुत' संज्ञा अन्वर्थक हुई थी।

जब प्रमाद एवं अन्य-विषयों में उपयोग की प्रसक्ति आदि कारणों से 'श्रुतकेवली-परम्परा' के बाद 'श्रुत' की अवधृति विस्मृति के गर्त में विलीन होने लगी, तब भी 'श्रुत' का 'श्रुतत्व' अक्षुण्ण बनाये रखने के आग्रह एवं दबाव में ही इस विस्मृति को देखते हुये भी किसी ने श्रुत को लिपिबद्ध करने का साहस नहीं दिखाया। इसी ऊहापोह में लगभग 400 वर्षों के सुदीर्घ-अन्तराल में जब 99% से भी अधिक श्रुत विस्मृति के गर्त में विलीन हो गया, तब भावी-भव्यों के हित की उदात्त-भावना से सर्वप्रथम आचार्य धरसेन स्वामी ने यह हिम्मतभरा-निर्णय लिया था कि भले ही परम्परा की अवहेलना का दोष लगे, किन्तु भावी-भव्यों के लिये आत्महितकारिणी-जिनवाणी पूर्णत: विलुप्त न होने पाये-- इस दृष्टि से उसे लिपिबद्ध करने का युगान्तरकारी निर्णय लिया था।

हे विद्वद्वर्य! जब आचार्य धरसेन स्वामी से पहले किसी ने भी 'श्रुत' को 'लिखित' रूप देने का साहस/दूरदर्शिता-पूर्ण-निर्णय ही नहीं किया था, तो फिर आचार्य धरसेन से 400 वर्ष पूर्व अंतिम-श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु स्वामी के काल में हुये उनके आपके द्वारा कथित साक्षात्-शिष्य आचार्य कुन्दकुन्द देव को 'श्रुत' को लिखने की आवश्यकता ही क्यों अनुभूत हुई? और उन्होंने 84 पाहुडों का लिपिबद्धीकरण क्यों किया?

(घ) यहाँ यह भी ज्वलंत-प्रश्न उपस्थित होगा (यदि आचार्य कुन्दकुन्द देव को ईसापूर्व 400 में हुये अंतिम-श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु स्वामी का साक्षात्-शिष्य माना जाये, तो) कि यदि आचार्य कुन्दकुन्द देव अंतिम-श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु स्वामी के साक्षात्-शिष्य थे, तब तो उन्हें लगभग सम्पूर्ण ही द्वादशांगी-श्रुत का ज्ञान रहा होगा। तब उन्होंने मूल-आगमों को यथावत् लिपिबद्ध न करके अपने ग्रन्थ क्यों लिखे?

यह कोई उपालम्भ नहीं है, बल्कि एक तथ्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द देव के ग्रन्थ उनकी मौलिक-प्रस्तुति हैं, न कि मूल-द्वादशांगी-श्रुत का साक्षात्-रूप। क्योंकि न तो तीर्थंकर-परमात्मा के ज्ञान (केवलज्ञान) में 'नयों' व 'दृष्टान्तों' का प्रयोग होता है और न ही उनकी दिव्यध्वनि में इनका प्रयोग हो सकता है। तथा जब दिव्यध्वनि में नयों व दृष्टान्तों का प्रयोग नहीं हो सकता है, तो उसी दिव्यध्वनि के आधार पर द्वादशांगी-श्रुत का स्वरूप-निर्माण करनेवाले गणधरदेव के ज्ञान में एवं द्वादशांगी-श्रुत में भी इनका प्रयोग असंभव है। क्योंकि केवलज्ञान पर आधारित परम्परा में इनका प्रयोग हो ही नहीं सकता है। ये तो स्थूल-श्रुतज्ञान व श्रुतज्ञानियों के द्वारा स्थूलबुद्धि-छद्मस्थों को समझाने के लिये उपयोग में लाये जाने वाले उपकरण हैं।

और आचार्य कुन्दकुन्द देव के ग्रन्थों में ('प्रवचनसार' जी को छोड़कर) नयों के प्रयोग की भरमार है। तथा दृष्टान्तों की सीमित-उपलब्धता तो 'प्रवचनसार' जी ग्रन्थ में भी है। इससे स्पष्ट है कि आचार्य कुन्दकुन्द देव के ग्रन्थ 'आदेश' यानि

'दिव्यध्वनि' एवं उसकी शाब्दिक-प्रस्तुति 'द्वादशांगी-श्रुत' का लिपिबद्धीकरण नहीं है, बल्कि 'उपदेश' अर्थात् आदेशरूप दिव्यध्वनि एवं द्वादशांगी-श्रुत की विषय-वस्तु को आधार बनाकर अपनी भाषा-शैली में लिखी गयी कृतियाँ हैं।

(ङ) यदि आचार्य कुन्दकुन्द देव अंतिम-श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु स्वामी के साक्षात्-शिष्य होते, तो उन्हें पहले तो 'श्रुत' का क्षरण ही नहीं मिला होता। और 'श्रुत' के क्षरण के अभाव में भला वे श्रुत को आधार बनाकर अपनी भाषा-शैली में 84 पाहुडों का लिपिबद्धीकरण क्यों करते? पहले तो परम्परा के विरुद्ध वे 'श्रुत' को लिखने का ही कार्य नहीं करते।

और कदाचित् मान भी लिया जाये कि उन्होंने श्रुत के लिपिबद्धीकरण का साहसिक-निर्णय लिया भी था, तो वे मूल-श्रुत को ही लिपिबद्ध करते, अपनी भाषा-शैली में अपनी रचनायें क्यों लिखते? ध्यातव्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द देव के उपलब्ध एवं अनुपलब्ध ग्रन्थों में से किसी भी ग्रन्थ का नामकरण मूल-द्वादशांगी-श्रुत के किसी भी 'अंग', 'पूर्व' या उनके भेद-प्रभेदों के नामकरण पर सीधे तौर पर आधरित नहीं है। विषय-वस्तु मूल-द्वादशांगी-श्रुत के 'आत्मप्रवाद-पूर्व' आदि पर आधारित होते हुये भी उसकी भाषा-शैली, प्रस्तुतीकरण एवं नामकरण-- सभी आचार्य कुन्दकुन्द देव की मौलिकता से ओतप्रोत हैं।

मेरे इस कथन का अर्थ आचार्य कुन्दकुन्द देव के लोकोत्तर-योगदान को कमतर सिद्ध करना कदापि नहीं है, उनकी रचनायें भव्यजनों के लिये अमृत के समान एवं परम-प्रामाणिक हैं। तथापि उनकी भाषा-शैली, प्रस्तुतीकरण आदि आचार्य कुन्दकुन्द देव की मौलक-देन है। विषय-वस्तु मूल-द्वादशांगी-श्रुत की ही है, किन्तु उसका शब्दांकन एवं प्रस्तुतीकरण पूरीतरह से आचार्य कुन्दकुन्द देव की प्रातिभ-प्रस्तुति है।

इनके अतिरिक्त जो साक्ष्य हैं, वे भी मननीय हैं। जैसे कि--

(क) आचार्य कुन्दकुन्द देव नन्दिसंघ के 'बलात्कार-गण' के आचार्य थे। बलात्कार-गण का इतिवृत्त जैनेन्द्र-सिद्धान्त-कोश भाग 1,पृष्ठ 323 में वीरनिर्वाण-संवत् 609 से प्रारम्भ माना गया है। जबकि अंतिम-श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु स्वामी का काल वीर-निर्वाण-संवत् 133 से 162 तक माना गया है। इसप्रकार दोनों के काल में लगभग 450 वर्षों का लंबा अन्तर है। तो न तो आचार्य कुन्दकुन्द देव की आयु 450 वर्षों से अधिक की मानी जा सकती है, कि वे अंतिम-श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु स्वामी के साक्षात्-शिष्य भी बने रहें और बाद में 'बलात्कार-गण' के आचार्य भी बन गये हों।

(ख) आचार्य कुन्दकुन्द देव के साक्षात्-शिष्य के रूप में आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी का नाम इतिहासकार लेते हैं। इनका समय ईसा की द्वितीय-शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना गया है। यदि आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्व 450 में हुये होते, तो उनके हाथों द्वितीय शताब्दी ई. के आचार्य उमास्वामी की दीक्षाविधि कैसे संभव है?

(ग) इनके टीकाकारों (आचार्य अमृतचंद्र सूरि, आचार्य जयसेन, आचार्य बाळचंद्र अध्यात्मी आदि) ने भी इन्हें कहीं भी अंतिम-श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु स्वामी के युग का या उनका साक्षात्-शिष्य नहीं कहा है। यदि आचार्य कुन्दकुन्द देव के उपर्युक्त-कथनों (गमयगुरु भद्दबाहू, सीसेण य भद्दबाहुस्स) का ऐसा अर्थ लिया होता, तो वे इस विषय में अवश्य लिखते।

आचार्य कुन्दकुन्द देव का 'आचार्य-काल'- जैन-इतिहास के मर्मज्ञ-मनीषियों ने विविध-पट्टावलियों, ऐतिहासिक-साक्ष्यों एवं अभिलेखों आदि के आधार पर आचार्य कुन्दकुन्द देव का 'आचार्य-पद' पर स्थितिकाल वीर-निर्वाण-संवत् 654 से 706 तदनुसार 49 ईस्वी से 101 ईस्वी सन् तक माना है।[2]

तब आचार्य कुन्दकुन्द देव का काल ईसापूर्व 450 सिद्ध करने का व्यामोह समस्त-तथ्यों, जैन-आचार्य-परम्परा एवं जैन-विद्वत्-परम्परा के द्वारा सप्रमाण एवं यथार्थ पर आधारित तथ्यों को अपनी कल्पित-व्याख्याओं के आधार पर मिथ्या सिद्ध

करने की वह अहंकारी-चेष्टा है, जो "मैं एक बार कह चुका हूँ, तो सिद्ध करके मानूँगा" -- इस मानसिकता की निरंकुश-अभिव्यक्ति मात्र है।

एतद्विषयक अन्य-तथ्य :- इस विषय में 'जैनेन्द्र-सिद्धान्त-कोश' के निर्माता क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी की यह टिप्पणी गम्भीरता-पूर्वक मननीय है--

"आचार्य-परम्परा से आगत ज्ञान का श्रेय होने से श्रुतकेवली भद्रबाहु (प्र.) को 'गमकगुरु' कहना न्याय्य है। किन्तु इनके साक्षात्-गुरु (दीक्षागुरु) आचार्य जिनचन्द्र ही थे। कुमारनन्दि के साथ भी इनका कोई संबंध नहीं है। हो सकता है कि ये इनके 'शिक्षागुरु' रहे हों।"[3]

यदि यह बात आप आग्रहपूर्वक जानना ही चाहते हैं कि यदि आचार्य कुन्दकुन्द देव अंतिम-श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु स्वामी के साक्षात्-शिष्य नहीं थे, तो उन्होंने उनका बारम्बार इतने बहुमान के साथ उल्लेख क्यों किया है? -- इस प्रश्न का तथ्यात्मकरूप से सविस्तार-समाधान मैंने अपने एक अन्य शोध-आलेख 'आचार्य कुन्दकुन्द देव ने समयसार में "सुदकेवली-भणिदं" क्यों कहा?' में दिया है। वह आलेख मैं इस आलेख के साथ अलग से पोस्ट कर रहा हूँ। उसे पढ़ने पर आपको आचार्य कुन्दकुन्द देव के इस कथन का अभिप्राय भलीभाँति समझ में आ सकेगा।

मैं उन तथाकथित-बुद्धिजीवियों से एक जिज्ञासा करना चाहता हूँ कि यदि आचार्य कुन्दकुन्द देव ने अंतिम-श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु स्वामी का अपने 'गमकगुरु' के रूप में उल्लेख करने से आचार्य कुन्दकुन्द उनके साक्षात्-शिष्य एवं समकालीन माने जा सकते हैं, तो फिर सारी जिनाम्नाय यह गीत गाती है कि--

"मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी।

मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्।।"

तो इस पद्य में तो आचार्य कुन्दकुन्द देव का स्मरण तीर्थंकर महावीर स्वामी के प्रधान-शिष्य इन्द्रभूति गौतम, जिन्हें हम 'गौतम-गणधर' के नाम से भी जानते हैं, के साथ एवं उनके ठीक बाद किया गया है, अत: आप जैसे अति-उत्साही एवं शब्द/पद का उल्लेख मिलते ही उसको आधार बनाकर समकालीनता प्रमाणित करने को तत्पर रहनेवाले प्रज्ञावन्त आचार्य कुन्दकुन्द देव को सीधे इन्द्रभूति गौतम स्वामी के साक्षात्-शिष्य एवं समकालीन सिद्ध करने का उद्यम क्यों नहीं करते हैं?

इससे तो आचार्य कुन्दकुन्द देव का काल आचार्य भद्रबाहु स्वामी से भी बहुत-पूर्ववर्ती, लगभग 150 वर्ष पहले का अर्थात् ईसापूर्व छठवीं शताब्दी का सिद्ध हो जायेगा और इससे आचार्य कुन्दकुन्द देव की गौरव-गरिमा तथा प्रामाणिकता में कई गुनी वृद्धि हो सकेगी। क्योंकि आपकी मानसिकता में तो "पुराणमित्येव हि साधु सर्वम्" अर्थात् जो जितना अधिक पुराना/प्राचीनकाल का है, वही सर्वश्रेष्ठ एवं अधिक-प्रामाणिक है। तब आप भद्रबाहु स्वामी को आचार्य कुन्दकुन्द देव के कालनिर्णय का आधार बनाना छोड़िये और इन्द्रभूति गौतम स्वामी को इस बहुप्रचलित-उल्लेख के आधार पर मुद्दा बनाइये।

फिर तो आप आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी का भी काल कम-से-कम आज से दो-पाँच सौ वर्ष प्राचीन सिद्ध करने की कोई जुगत निकालिये न। सच, तब आपकी दृष्टि में उनके व्यक्तित्व एवं योगदानों की कीमत कई गुना बढ़ जायेगी। क्योंकि वे अधिक-प्राचीन बन जायेंगे।

न जाने ऐसी कितनी अविवेकपूर्ण-बिडम्बनायें ऐसे विद्वान् मात्र चर्चित रहने के लिये समाज में फैलाते रहेंगे और भोली-समाज को तत्त्वज्ञान की चर्चा सुनाने की जगह ऐसी प्राचीनता सिद्ध करने की कल्पित-प्रतिपत्तियों से समाज को दिग्भ्रमित करते रहेंगे??

अस्तु, मैं अपने पिछली-किस्त के प्रतिपादन से आगे के कुछ निर्विवाद एवं तथ्यात्मक-बिन्दुओं को जिज्ञासुजनों के विचारार्थ यहाँ प्रस्तुत करना चाहता हूँ-

2. यदि किसी कथन की तथ्यात्मकता के बाधक-प्रमाण प्रचुर-परिमाण में हों, तो उस कथन का अर्थ-निर्णय विवेक से करना चाहिये, शब्दार्थ के आधार पर नहीं :-

बहुत से प्रयोग ऐसे होते हैं, जिनका शाब्दिक-रूप सम्मानार्थक होता है, किन्तु उनका वास्तविक-अभिप्राय कुछ और ही होता है। जैसे कि लोक में विनयवश जिनेन्द्र देव को 'त्रिलोकीनाथ' कहते हैं, तो जिनेन्द्र देव न तो किसी भी परपदार्थ पर स्वामित्व का भाव रखते हैं और न ही वे उसके प्रति ममत्व रखते हैं। ऐसा कहनेवाले भी वास्तव में जिनेन्द्र देव को वीतरागी ही मानते हैं, रागी नहीं मानते हैं। मात्र लोक-विनयवश ऐसा कहते हैं। यह शिष्टाचार है, वास्तविक-मान्यता नहीं है। इसीप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द देव ने जो अंतिम-श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु स्वामी को अपना 'गमकगुरु' कहा और अपने को उनका शिष्य ("सीसेण य भद्दबाहुस्स") कहा है, वह ऐसे ही शिष्टाचार का पालन है। तब भी उन्होंने न तो भद्रबाहु स्वामी को अपना 'दीक्षागुरु' कहा और न ही 'शिक्षागुरु' कहा है। उन्होंने तो अपने ग्रन्थों के प्रतिपाद्य-विषय को द्वादशांगी-श्रुत से अनुबद्ध ज्ञापित करने के लिये 'श्रुतकेवली' भद्रबाहु स्वामी को 'अपना गमकगुरु' कहा है। जब साक्षात्-गुरु न कहकर 'गमकगुरु' कहा है, तो वे शिष्य साक्षात् कैसे हुये, वे उनके 'अनुगामी-शिष्य' ही तो हुये न?

हम सभी अपनेआप को "आचार्य कुन्दकुन्द देव का अनुगामी-शिष्य" कहते हैं, तो क्या हम इस कथन से उनके समकालीन हो गये? और समकालीन न मानने पर क्या हमें आचार्य कुन्दकुन्द देव का अनुगामी या आज्ञानुवर्ती रहने का अधिकार नहीं रह जायेगा?

ऐसे तर्क एवं आग्रह 'बालचेष्टा' अथवा 'कदाग्रह' के अन्तर्गत ही परिभाषित हो सकते हैं।

यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द देव के द्वारा जो बहुमान अंतिम-श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु स्वामी के प्रति "गमयगुरु भद्दबाहू" एवं "सीसेण य भद्दबाहुस्स" कहकर व्यक्त किया है, वह सोद्देश्य है तथा इस उद्देश्य का स्पष्टीकरण मैं "समयसार में सुदकेवली-भणिदं क्यों कहा?" शीर्षक आलेख में भलीभाँति स्पष्ट कर चुका हूँ। रही बात गमकगुरु कहने की, तो पहले यही विचार कर लेना चाहिये कि भारतीय-परम्परा में 'गमकगुरु' किसे कहा गया है? इसका क्या अर्थ एवं स्वरूप माना गया है?- तो इसका विवरण निम्नानुसार है-

(क) 'गमक'-गम्+ण्वुल्, संकेतक, सुझाव देनेवाला, प्रणाम करना, जिसका अनुकरण किया जाये, विश्वासोत्पादक।[5]

(ख) हिन्दी-विश्वकोश के अनुसार 'गमकगुरु' शब्द के निम्नानुसार अर्थ मिलते हैं--

गमन करनेवाला, जानेवाला, बोधक, सूचक।

"... गमकं पाण्डित्य-वैदग्धयो:।"[4]

स्वरभेद, श्रुतिप्रचयप्रकाशको नाम गमक:। इसके साथ भेद हैं। यथा–कम्पित, स्फुरित, लीन, भिन्न, स्थविर, आहत और आन्दोलित हैं। गायक को पौष–मास और माघ–मास में एक–प्रहर रात्रि के रहने पर जल में प्रवेश करना और गमक की साधना करनी चाहिये।[6]

(ग) 'पाइय–सद्द–महण्णव' के अनुसार 'गमक' शब्द के बोधक, निश्चायक अर्थ हैं।[7]

(घ) 'प्राचीन भारतीय संस्कृति कोश' के अनुसार "संगीत में श्रुति या स्वर पर दूसरी–श्रुति या स्वर पर जाने का एक प्रकार है, जिसके कंपित आदि सात–भेद होते हैं। [8]

(ङ) 'विशेषावश्यक–भाष्य' (पृ. 549) के अनुसार 'दृष्टिवाद' नामक बारहवें अंग को 'गमिक' या 'गमक' कहते हैं।" भंग–गणियाइं गमियं जं सरिसगमं च कारणवसेण। दिट्ठिवाए वा।"

अर्थात् वह श्रुत, जिसमें भंग, गणित अथवा गमों सदृश पाठों की बहुलता हो, जैसे– 'दृष्टिवाद'।[9]

उपर्युक्त–विवरणों से तीन–निष्कर्ष निकलते हैं।

पहला उत्कृष्ट–पांडित्य या विदग्धता से युक्त व्यक्ति 'गमक' या 'गमकगुरु' कहा गया है।

दूसरा संगीत–शास्त्र के अनुसार यह कोई विशिष्ट–स्वर का नाम है, जिसकी साधना–पद्धति भी अलग है और जिसके साथ–भेद माने गये हैं।

तीसरा द्वादशांगी–श्रुत के बारहवें–अंग 'दृष्टिवाद' का नाम 'गमक' या 'गमिक/गमिय' कहा गया है।

अब विचारणीय–तथ्य है कि इनमें से कौन–सा अर्थ आचार्य कुन्दकुन्द देव के द्वारा उल्लिखित 'गमकगुरु' से साम्य रखता है?

यह तो अत्यन्त–स्पष्ट बात है कि संगीत के स्वरों से संबंधित 'गमक' यह नहीं है। क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द देव ने न तो संगीत–संबंधित विषय का अपने ग्रन्थों में प्ररूपण किया है और न ही वे किसी संगीत–विशारद का स्मरण करना चाहते थे, अत: उनके गमकगुरु का स्वरूप संगीतज्ञ के रूप में होने की संभावना ही नहीं है। साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि अंतिम–श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु स्वामी भले ही संगीतशास्त्र के भी ज्ञाता रहे हों, किन्तु जिनाम्नाय में उनकी प्रतिष्ठा संगीत–मर्मज्ञ के रूप में नहीं रही है और न ही उन्होंने संगीतविद्या के प्ररूपण में अपने वैदुष्य को चरितार्थ किया था। अत: संगीत के स्वर–विशेष को 'गमक' मानकर उनके विशेषज्ञ के रूप में आचार्य भद्रबाहु स्वामी को अपना गमकगुरु कहने की कोई संभावना तक नहीं मानी जा सकती है।

रही बात बाकी दो बिन्दुओं की, तो यह तो असन्दिग्ध–तथ्य है कि आचार्य भद्रबाहु स्वामी द्वादशांगी–श्रुत के असाधारण–वैदुष्य के धनी थे, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द देव सम्पूर्ण द्वादशांगी–श्रुत के उत्तराधिकारी नहीं थे। उन्होंने तो मात्र बारहवें–अंग 'दृष्टिवादांग' के अन्तर्गत आनेवाले कुछ आत्म–विषयक–प्ररूपणों को ही अपना प्रतिपाद्य बनाया था। अत: उनका अधिकृत–ज्ञान अन्य किसी आसन्न–पूर्ववर्ती या समकालीन आचार्य को होने की स्थिति नहीं थी, क्योंकि ऐसा कोई उल्लेख उनके निकटवर्ती जैन–इतिहास में नहीं मिलता है। इसीलिये आचार्य कुन्दकुन्द देव को अपने प्रतिपाद्य विषयों की आगमरूपता एवं प्रामाणिकता ज्ञापित करने के लिये उनके अंतिम–अधिकृत–पारगामी मनीषी प्रवर अंतिम–श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु स्वामी को अपने 'गमकगुरु' के रूप में उल्लिखित किया है। क्योंकि जिनाम्नाय में 'गमक या गमिय' का अर्थ मूलत: 'दृष्टिवाद' नामक बारहवाँ–अंग लिया गया है, तो उसी की साक्षात्–संगति अंतिम–श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु स्वामी के साथ सुसंगत होती है। अत: यही

अर्थ यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द देव को भी इष्ट एवं अभिप्रेत रहा होगा और इसीकारण उन्होंने अपनी कृतियों में अंतिम-श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु स्वामी को 'गमकगुरु' के रूप में सबहुमान स्मरण किया है।

संन्दभग्रन्थ-

1. नन्दिसंघ-पट्टावली
2. द्र. जै. सि. को. भा. 1, पृष्ठ 323
3. जैनेन्द्र-सिद्धान्त-कोश, भाग 2,पृष्ठ 128
4. मालतीमाधव- पृष्ठ 32
5. आप्टे कृत संस्कृत-हिन्दी-शब्दकोश, पृष्ठ 336
6. विश्व हिन्दी कोश, भाग 6, पृ. 196-197
7. विश्व हिन्दी कोश, भाग 6, पृ. 287
8. विश्व हिन्दी कोश, भाग 6, पृ. 99
9. जैन पारि. शब्दकोश, पृ. 104